Volume: 1 Issue: 4 Pages: 18-23

International Journal of Research in Academic World

E-ISSN: 2583-1615
Impact Factor: 3.133

Received: 10/November/2021 Int. J Res. Acad. World. 2021; 1(4):18-23 Accepted: 12/December/2021

मौर्योत्तर काल में सामाजिक जीवन के विभिन्न आयाम : एक विश्लेषण

*[1]Ruchika M

*[1]ज्योत्सना शिक्षा महाविद्यालय, सीधी, मध्य प्रदेश, भारत

सारांश

भारतीय समाज और संस्कृति का इतिहास अपने सातत्य और अविच्छिन्नता के गुणों के कारण विश्व में अद्वितीय स्थान रखता है। प्रथम शताब्दी ई.पू. में भारत में विदेशी साम्राज्य की स्थापना के परिणामस्वरूप भारतीय समाज एवं संस्कृति गहराई से प्रभावित हुई। इस काल में एक ओर केन्द्रीकृत शासन सत्ता की समाप्ति परिलक्षित होती है और वहीं दूसरी ओर जीवन के विविध पक्षों में गतिशीलता एवं परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। विदेशी जातियों में शक, यवन, सीथियन, पारसीक, आभीर, तथा हूणों ने भारत पर आक्रमण कर एक दीर्घ अवधि तक शासन किया। यह विदेशी अपने साथ विभिन्न पृष्ठभूमियों के आचार–विचार, खान–पान और रहन–सहन की विभिन्न शैलियों को लाए, किन्तु कालान्तर में विभिन्न भौगोलिक और सांस्कृतिक परिवेश से आए ये विदेशी हमारी संस्कृति द्वारा आत्मसात कर लिए गए। इन विदेशियों के आगमन से हमारी सांस्कृतिक व सामाजिक गतिशीलता को बढ़ावा मिला। प्रस्तुत शोध पत्र में सामाजिक व्यवस्था के विविध पक्षों का वर्णन प्रस्तुत किया गया है।.

मूल शब्द: अविच्छिन्नता, वेदाध्ययन, कर्मणा

प्रस्तावना

मौर्योत्तर काल में समाज की दो प्रमुख विशेषताएं जिनमें पहली अनेक उपजातियों की उत्पत्ति एवं दूसरी विदेशियों का भारतीय समाज में घुल जाना दृष्टिगोचर होती हैं। धर्मशास्त्रों में सभी उपजातियों की उत्पत्ति अन्तरजातीय विवाह से बतलाई गई है, किन्तु वास्तविक कारण व्यवसाय, रीति–रिवाज, विदेशी जातियों का आगमन तथा आदिम जातियाँ जैसे कि अम्बष्ठ, रथकार और करण आदि का हिन्दू समाज में मिल जाना था। विदेशी जातियों की उपस्थिति ने समाज को असहिष्णु और संकीर्ण बनाए जाने की उत्प्रेरणा दी तो दूसरी ओर उसकी जड़ता पर प्रहार कर उसे उदार, समन्वयशील और सहिष्णु होने की प्रेरणा दी। मौर्योत्तर काल भारत में परिवर्तन, पराक्रम एवं राष्ट्र के चहुँमुखी विकास का काल है। इस काल में भारतीय समाज एवं संस्कृति की विशेषता यह रही कि जितनी भी वाह्य शक्तियाँ भारत आईं, वे या तो भारतीय संस्कृति में निमज्जित हो गयीं अथवा पत्तनोन्मुख होकर विनष्ट हो गयीं। विदेशी शासकों ने भी इस सांस्कृतिक समरसता की स्थापना में योगदान दिया और भारतीय संस्कृति को अंगीकार कर लिया। यह समन्वय व सामंजस्य भारतीय विधि, भारतीय साहित्य, भारतीय धर्म, भारतीय व्यवस्था और भारतीय कला के क्षेत्र में हुआ। इस काल में राजनीतिक अस्थिरता के बावजूद आर्थिक विकास के नए मानदण्ड स्थापित हुए। विदेशी तत्वों के समाज में समायोजन से तथा आर्थिक प्रगति के कारण सामाजिक ताना–बाना भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। इन परिवर्तनों को आत्मसात करते हुये पूर्व की अपेक्षा थोड़ा भिन्न सामाजिक जीवन स्पष्ट होता है।

वर्ण एवं जाति व्यवस्था

विवेच्यकालीन सामाजिक व्यवस्था को समुचित रूप से समझने के लिए वर्ण एवं जाति के स्वरूप एवं विकासक्रम से दो.चार होना आवश्यक है। वर्ण शब्द की उत्पत्ति 'वृ' धातु से होती है, जिसका अभिप्राय 'वरण' करना है। इसके अतिरिक्त वर्ण शब्द 'रंग' के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत कर्म का प्रधान स्थान होता है और समाजज में व्यक्ति का महत्त्व वर्ण के आधार पर निश्चित होता है। मनुस्मृति में वर्ण एवं जाति शब्द प्रायः एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुये है।[1] समझने के लिए इसकी परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि वर्ण व्यवस्था स्वभावतः अस्थिर है जब कि जन्म पर आधारित जाति व्यवस्था स्थिर होती है। अतः स्पष्ट है कि वर्ण यद्यपि अनेक अर्थो में प्रयुक्त हुआ है पर उसके मूल अर्थ में कोई भिन्नता नहीं है। व्यक्ति के कृत्यों (व्यवसाय) एवं अर्जित–गुणों (जन्म पर आधारित) का तात्पर्य सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण से है। ब्राह्मण–वर्ण का सम्बन्ध सत्वगुण से होने के कारण इसका वर्ण श्वेत, क्षत्रिय रजोगुण पर आधारित रक्तवर्ण एवं शूद्र तमोगुणी होने के कारण कृष्ण–वर्ण माने जाते हैं। सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण द्वारा ही समाज को चार वर्णो में विभाजित किया

*Corresponding Author: Ruchika M

जाता है। इन गुणों के आधार पर ही सभी वर्णो के कार्य निर्धारित होते हैं।[2] अतः स्पष्ट है कि गुण एवं कर्म परस्पर अभिन्न हैं।

प्राचीन भारतीय विधान में वर्ण व्यवस्था एक उत्तम संस्था थी। बिना वर्ण व्यवस्था के स्वस्थ समाज की परिकल्पना दुर्लभ थी। वर्ण–व्यवस्था ने समय–समय पर भारतीय (हिन्दू) समाज की समस्त गतिविधियों को प्रभावित एवं निर्देशित किया। यह कहना अनुचित न होगा कि सामाजिक व्यवस्था में वर्ण–व्यवस्था का वही महत्त्व है, जो शरीर में रीड़ की हड्डी का है। अपनी इसी उपयोगिता एवं उपादेयता के कारण ही भारतीय जाति –व्यवस्था सदैव से ही देशी एवं विदेशी विचारकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करती रही। वर्ण व्यवस्था में दो प्रमुख तत्व दृष्टिगत होते हैं। एक तो सभी वर्णो के लिए निर्धारित कर्म और दूसरे विभिन्न वर्णो के अपने–अपने कर्म वैज्ञानिक आधार पर निर्धारित किये गये, जो समाज के व्यवस्थित विभाजन को व्यक्त करते हैं। अतः स्पष्ट है कि भारतीय वर्णव्यवस्था सामाजिक वर्गो की महत्ता और उनके कर्मो की प्रतिष्ठा से सम्बद्ध है।

विवेच्य कालीन सामाजिक स्थिति में परिवर्तन स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं। इस काल की प्रमुख घटना चार वर्णो के अतिरिक्त अन्य जातियों की उत्पत्ति है। मनु ने अबंष्ठ, निषाद, सूत, उग्र, विदेह, मागध आदि 57 जातियों का उल्लेख किया है। इस समय विदेशी जातियों का आगमन तथा भारत में शुंग वंश की स्थिति पतनोमुख थी। समाज शुंगकालीन वर्णव्यवस्था पर आधारित था, जिसमें ब्राह्मण वर्चस्व व्याप्त था। छठी शती ई.पू. सामाजिक एवं धार्मिक क्रान्ति के फलस्वरूप वैदिककालीन वर्णव्यवस्था पर कुठाराघात हुआ। मूलरूप से देखा जाए तो बौद्धधर्म की उत्पत्ति का कारण ही वैदिक वर्ण–व्यवस्था का विकृत स्वरूप था, जिसमें ब्राह्मणों को विशेषाधिकार प्राप्त थे तथा शूद्र आदि निम्न जातियों का उत्पीड़न एवं शोषण किया जाता था। इसी की प्रतिक्रया थी, जो बौद्धधर्म में ब्राह्मणों का स्थान कदाचित् क्षत्रियों ने ले लिया था। महावस्तु में वर्णक्रम क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र मिलता है, यद्यपि परम्परागत वर्ण–क्रम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, व शूद्र का उल्लेख भी उन्हीं ग्रन्थों में किया गया है। बौद्धग्रन्थों में वर्णव्यवस्था का स्वरूप जन्मना न होकर कर्मणा स्वीकार किया गया अर्थात् जो व्यक्ति तेजस्वी, पण्डित, विनीत एवं सदाचारी होगा वही ब्राह्मण–पद का वास्तविक अधिकारी है।[3]

ब्राह्मण

समाज में ब्राह्मण का स्थान सर्वोच्च था। उसे ऋतुओं में बसन्तऋतु के सदृश माना गया है। क्षत्रिय को ग्रीष्म एवं वर्षा ऋतु वैश्य माने गये हैं। इसी प्रकार वृक्षों में पलाश, नक्षत्रों में रोहिणी, पशुओं में अज और दिन–रात में दिन को ब्राह्मण कहा गया है।[4] इन्हें समाज में अग्रणी माना जाता था।[5] दिव्यावदान में इन्हें 'ज्येष्ठ' कहा गया है।[6] अपने उच्च एवं पवित्र आचार–विचार तथा ब्रह्म ज्ञान के कारण ब्राह्मण समाज की सबसे प्रतिष्ठित इकाई माने जाते रहे हैं।[7] जन सामान्य में वे सम्मान और आदर के पात्र थे। मनुस्मृति में ब्राह्मणों के कर्त्तव्य एवं विशेषाधिकार इस प्रकार निर्दिष्ट हैं– अध्ययन, अध्यापन, पूजा करना, पुरोहिती, दान देना, दान ग्रहण करना।

वेदाध्ययन: वेदाध्ययन का अधिकार 'द्विज' मात्र को प्राप्त था। द्विज अर्थात जिसके दो जन्म हुए हों। एक माता से तथा दूसरा उपनयन संस्कारोपरान्त। मनुस्मृति में वेदज्ञान को ब्राह्मण का तप माना गया। याज्ञवल्क्य के मतानुसार जो द्विज निरन्तर वेदाध्ययन में निरत रहता है, वह वैभव–सम्पन्न पृथ्वी के तीन बार दान एवं सबसे बड़े तप के पुण्य का भागी होता है। मनुस्मृति में उल्लिखित है कि ब्राह्मणों में विद्वानों में कृतबुद्धि में अनुष्ठान करने वाले और उनमें भी ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ हैं। पतंजति ने भी तप एवं अध्ययन को ब्राह्मण के लिए आवश्यक बताया है।

वेदाध्यापन: ब्राह्मण के उच्च आदर्श को स्थिर रखने के लिए व्यवस्थाकारों ने ब्राह्मणों के आवश्यक गुणों पर भी सदैव बल दिया है। अध्यापन ब्राह्मणों का विशेषाधिकार था। विदित है कि वेदाध्ययन का अधिकार द्विजों को प्राप्त है, पर वेदाध्यापन केवल ब्राह्मणों को ही करना चाहिए। यह प्रतिष्ठित कार्य समाज में ब्राह्मणों के सर्वोच्च –पद का द्योतक था। मनुस्मृति में वर्णित है कि विद्वान–ब्राह्मणों द्वारा सम्यक् रूप से शिष्यों को धर्मशास्त्र का ज्ञान कराना चाहिए। इस कार्य को क्षत्रिय आदि अन्य वर्ण न करें। मात्र आपातकाल में यह कार्य अन्य वर्ण भी कर सकते हैं, परन्तु आपातकाल के पश्चात् पुन : अपने निश्चित व्यवसाय पर लौट आना चाहिए।

पूजा करना: दैव–अर्चना ब्राह्मण जीवन का आवश्यक अंग था। मनुस्मृति में लिखा है कि यदि ब्राह्मण प्रातः एवं सायंकालीन सन्ध्याएं न करे तो उसे राजा द्वारा शूद्रोचित कार्य दिया जाना चाहिए।[9]

पुरोहिती पर ब्राह्मण और केवल ब्राहाणों का ही अधिकार था। पुरोहिती की परम्परा प्राचीन–काल से चली आ रही है। धार्मिक–यज्ञादि से पुराहितों को दक्षिणा में अच्छी धन–सम्पत्ति की प्राप्ति हो जाती थी।[10] मनुस्मृति में लिखा है कि जो ब्राह्मण तीन वर्ष तक मन्दिर में पुरोहिती द्वारा दान–दक्षिणा ग्रहण करता है, तीन वर्षोपरान्त श्राद्ध एंव हव्य –कव्य में नहीं बुलाया जाता।[11] अतः स्पष्ट है कि यद्यपि पुराहिती ब्राह्मणों का विशेषाधिकार अवश्य था पर साथ ही यह निम्न कार्य माना जाता था। धार्मिक कृत्यों को करने वाले ब्राह्मण के लिए आवश्यक था कि वह गौरवर्ण, शुद्ध आचरण, पिंगल–वर्ण और लाल –केश (सम्भवतः रंगे हुए) (कपिल–केश) आदि विशेषताओं से युक्त हो।[12] मनु एवं याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मणों के लिए छः कर्म नियत किये हैं। अध्ययन, अध्यापन, यजन, (यज्ञ करना), याजन (यज्ञ कराना), दान देना, प्रतिग्रह (दान लेना) ब्राह्मणों की जीविका के प्रमुख साधन थे।[13]

अध्ययापनमध्ययंन यजनं याजनं तथा।
दानंप्रतिग्रह चेव ब्राहनणानाम कल्पयत्।। मनु , 1.88

दान स्वेच्छा से श्रद्धापूर्वक देने एवं प्रेमपूर्वक लेने पर ही पुण्यदायक होता था अन्यथा नहीं। दान अनेक वस्तुओं का होता था तथा उनका पुण्य भी भिन्न था, पर जल, अन्न, गौ, भूमि, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और धृत इन सबके दानों से ब्रह्मदान–वेद का पढ़ाना सर्वोत्तम फलदायक था। जो मनुष्य वेदज्ञाता तथा पुत्र–पुत्री आदि परिवार से युक्त ब्राह्मण को धन, गौ, भूमि, सुवर्ण, अन्नादि का दान देता है, वह मरणोपरान्त स्वर्ग को जाता है।

दण्ड विधान: अपराध करने पर ब्राह्मण को भी दण्ड दिया जाता था। यद्यपि यह दण्ड अपेक्षाकृत काफी हल्का था, जैसा कि याज्ञवल्क्य स्मृति में उल्लिखित है कि ब्राह्मण अवध्य, अबन्ध्य, अदण्ड्य, अबहिस्कार्य, अपरिवाद्य एवं अपरिहार्य माना जाता था, पर यह मात्र विद्वान–ब्राह्मणों से सम्बन्धित था।[14] इस विषय में मनु का भी आदेश था कि ब्राह्मण को किसी भी परिस्थिति में प्राण–दण्ड नहीं देना चाहिए। झूठी गवाही एवं अन्य दुराचारों के लिए धनदण्ड उचित माना जाता था। ब्राह्मणों को प्राण–दण्ड होने पर उसका मुण्डन करा देना ही प्राणदण्ड का सर्वोत्तम स्वरूप था। अपराधी का सिर मुड़ाकर, ललाट पर अंक लगाकर तथा गदहे पर चढ़ाकर बस्ती में चारों ओर घुमाकर निकाल बाहर करना अनादर का सबसे बड़ा रूप माना जाता था।[15] यदि ब्राह्मण गवाही के लिए बुलाए जाने पर कुछ छुपाए तो उसे दण्ड में देश निकाला दे देने की व्यवस्था थी।[16] दिव्यावदान में वर्णित है कि स्वर्ण–हरण से बढ़कर और कोई स्तेय नहीं है। स्वर्णहरण करने वाला विप्र अब्राह्मण कहलाता है।[17] मनुस्मृति में विहित है कि ब्राह्मण अपने शुद्र–दास की सम्पत्ति को ले सकता है, चूँकि सम्पत्ति रखने का उसे कोई अधिकार नहीं है। इतिहासकार काशी प्रसाद जायसवाल का मत है कि ब्राह्मण–अधिकार को कानूनी –मान्यता दी गई थी।[18]

वैदिक –काल से ही ब्राह्मण समाज में सर्वोच्च पदासीन रहे हैं। स्मृतिशास्त्रों में भी उनकी भूरि–भूरि प्रशंसा यत्र –तत्र सर्वत्र मिलती है। वास्तव में उन्हें ये सम्मान जन्म से ही प्राप्त था परन्तु बड़े होने पर वह अपने पुनीत आचरण द्वारा उस गरिमा को स्थिर रखते थे। यही कारण है कि 10 वर्ष का ब्राह्मण 100 वर्ष के क्षत्रिय से अधिक सम्माननीय कहा गया। एक उक्ति है कि देवता तो परोक्ष–देवता है किन्तु ब्राह्मण प्रत्यक्ष देवता है। ब्राह्मणों की कृपा से देवता स्वर्ग में स्थित हैं। ब्राह्मणों द्वारा कहे वचन ब्रह्म–वचन होते हैं।[19] ब्राह्मण भगवान एवं मानव के बीच दोनों को जोड़ने की कड़ी है।[20]

मौर्योत्तर काल में ब्राह्मणों की क्षेत्रीयता के आधार पर भी सामाजिक प्रतिष्ठा में अन्तर दिखाई पड़ता है। मनु के अनुसार ब्रह्मवर्त के ब्राह्मण अंग और ओड्र के ब्राह्मणों से श्रेष्ठ हैं। इन प्रदेशों को उस समय 'म्लेच्छ देश' समझा जाता था। स्पष्ट है कि अन्य क्षेत्रों के ब्राह्मणों को उपर्युक्त क्षेत्र के ब्राह्मणों से अधिक श्रेष्ठ माना जाता था तथा श्राद्धभोजन एवं दान आदि याज्ञिक कार्यो में उन्हें वरीयता दी जाती थी। सम्भवतः यवन, पह्लव शक और कुषाण जैसी अनार्य जातियों के भारतीय समाज में सम्मिश्रण के बावजूद आर्यो ने अपना प्रभाव बचाये रखने के लिए इस प्रकार से उपक्रम किये होंगे, जिससे भारतीय समाज में कुछ संकीर्णता आने लगी थी। यद्यपि इन नियमों का समाज में व्यावहारिक प्रयोग हो पाता था या नहीं, यह निश्चित नहीं है।

क्षत्रिय

सामाजिक परिवेश में क्षत्रियों को द्वितीय स्थान प्रदान किया गया है। द्विज होने के कारण क्षत्रिय वेदाध्याय के योग्य माने गये। मनु ने क्षत्रियों के अधिकारों, कर्तव्यों एवं दायित्वों का उल्लेख किया है।[21] मनु ने लिखा है कि जब तक साम्राज्य में वर्णो की पवित्रता स्थापित है, तभी तक साम्राज्य उन्नत एवं समृद्धशाली रह सकता है अन्यथा वह निवासियों सहित नष्ट हो जाएगा। मान्यता थी जिस प्रकार ब्राह्मण तप–बल द्वारा पृथ्वी का भार वहन करता है, उसी प्रकार क्षत्रिय भुजबल से, अतयेव अपनी महत्ता एवं उपयोगिता के कारण यह दोनों वर्ण (ब्राह्मण व क्षत्रिय) एक दूसरे के पूरक माने गए। यदि ब्राह्मण राजा के स्वास्थ्य, योग–क्षेम एवं युद्ध में विजय हेतु पूजा–अर्चना करता था तो क्षत्रिय शक्ति द्वारा जीवन पर्यन्त उसकी रक्षा करता था।

महाभारत में वर्णन आया है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय को सहयोगपूर्ण वातावरण बनाए रखना उचित है।[22] सामाजिक व्यवस्था के नियमन के लिए दोनों वर्णो का परस्पर सहयोग आवश्यक माना गया। सामाजिक अनुक्रम में ब्राह्मण एवं क्षत्रिय की उच्च स्थिति अन्य दो वर्णो वैश्य तथा शूद्र से अधिक स्पष्ट करने के लिए ब्राह्मण एवं क्षत्रियों का एक साथ उल्लेख हुआ।[23] साहित्यिक–ग्रन्थों में क्षत्रियों के करणीय–कार्य इस प्रकार वर्णित हैं– अध्ययन, यजन, दान देना, प्राणियों की रक्षा करना, सैनिक वृत्ति एवं विषयों की ओर से निवृत्ति। इनमें प्रथम तीन कर्तव्य तो द्विजमात्र अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिए आवश्यक कहे गये शेष अन्य क्षत्रियों के विशेषाधिकार थे।

वर्ण के क्रम के अनुसार क्षत्रियों के लिए दण्ड की व्यवस्था भी क्रमानुसार की गई थी। दण्ड की महत्ता पर बल देते हुए मनुस्मृति में लिखा है कि वास्तव में राजा द्वारा कर्तव्य –पालन हेतु दण्ड अस्त्र का काम करता है एवं इसी दण्ड के आधार पर राजा प्रजा की रक्षा सुचारू–रूप से करता हुआ धर्म का भी पालन कर सकता है अन्यथा नहीं।[24] ब्राह्मण द्वारा अनिच्छापूर्वक क्षत्रिय–वध करने पर दण्ड स्वरूप विधि–विधान से व्रत तथा एक बैल के साथ सहस्रगायों को ब्राह्मण के द्वारा दान में देना पड़ता था। मनु का कथन है कि ब्राह्मण से कटु कहने वाला क्षत्रिय सौ पण, वैश्य डेढ़ सौ पण या दो सौ पण और शूद्र वध (ताड़न–मारण) आदि से दंडनीय होते थे।[25]

मौर्योत्तरकालीन वर्णव्यवस्था में क्षत्रियों का अपना अलग महत्त्व था। क्षत्रिय वर्ण को ब्राह्मण वर्ण की भाँति सामाजिक प्रतिबन्धों से स्वतन्त्रता प्राप्त थी। उनको खान–पान सम्बन्धी प्रतिबन्ध जैसे मांस–मंदिरा आदि का

सेवन में स्वतन्त्रता प्राप्त थी। वह मांस मदिरा आदि सभी अभीष्ट वस्तुओं का सेवन कर सकते थे। हालांकि मनु ने सुरा को अन्नों का मल कहा था और पापों का भी मल कहा गया है। इस कारण क्षत्रिय को सुरा पान निषिद्ध था। क्षत्रिय शूद्रों की भाँति धार्मिक कृत्यों से बहिष्कृत नहीं थे। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों द्वारा सम्मान प्राप्त था। क्योंकि सदैव से ही ब्राह्मणों का सम्बन्ध अच्छे–अच्छे राजघरानों से रहा, जहाँ एक तरफ तो उन्हें राज–पुरोहिती में अर्थ–प्राप्ति होती रही, दूसरी तरफ अत्यधिक सम्मान भी मिलता था। क्षत्रिय–वर्ण की प्रशंसा में मनु ने लिखा है कि धनादि के विषय में शुद्ध, सत्यप्रतिज्ञ, शास्त्रानुसार आचरण करने वाला, बुद्धिमान राजा दण्ड का प्रयोग करता हुआ जल में घी की बूंद की भांति यशस्वी होता है।[26]

वैश्य

मौर्योत्तरकालीन वर्ण व्यवस्था के क्रम में तृतीय स्थान वैश्य वर्ण को मिला। तत्कालीन समाज में वैश्य –वर्ण ने पूर्व–काल की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था। वैश्य शब्द केवल ऋग्वेद के पुरूषसूक्त में आया परन्तु 'विश' शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। वैश्य–वर्ण की व्युत्पत्ति परमपुरूष के उरू से हुई मानी जाती है। इस समय तक आते–आते वैश्य व शूद्र वर्ण का अन्तर कम होने लगा था।

स्मृति–ग्रन्थों में वैश्य–वर्ण के कार्य निम्न प्रकार से वर्णित हैं– अध्ययन करना, यजन, दान देना, व्यापार, पशुपालन एवं कृषि आदि।[27] यद्यपि अध्ययन, यजन व दान देने में वैश्यों को ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के समान अधिकारी माना गया था। परन्तु वास्तव में वैश्यों की समाजिक–स्थिति इन वर्णो की तुलना में निम्न थी। मनुस्मृति में उल्लेख आया है कि वस्तुओं एवं देशों के गुण–दोष, विक्रय की वस्तुओं के लाभ–हानि और पशुओं को बढ़ाने आदि को विषद जानकारी, इसी प्रकार नौकरों की परिश्रम के आधार पर आय, विभिन्न देशों की भाषा, वस्तुओं के योग्य–स्थान एवं उसमें उचित मिलावट, क्रय–विक्रय की जानकारी आदि विषयों का ज्ञान वैश्य को होना आवश्यक है। इसी में वर्णित है कि बीज बोने सम्बन्धी समस्त ज्ञान, खेतों के गुण–दोष, तौल–विषयक समस्त जानकारी वैश्य को होनी चाहिए।[28]

वैश्यों की आर्थिक स्थिति तत्कालीन व्यावसायिक–संगठनों एवं विदेशों से व्यापार आदि द्वारा विदित होती है। याज्ञवल्क्य ने व्यावसायिक संगठनों में श्रेणी, नैगम, पूग, व्रात, गण नाम गिनाए है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में धन की बढ़ती महत्ता के कारण भौतिक समभ्युदय में रत वैश्य समुदाय ने आध्यात्मिक एवं मानसिक विकास की ओर ध्यान नहीं दिया और व्यापार कृषि तथा पशुपालन को ही जीवन का मुख्य साधन बना लिया। रोम आदि से व्यापारिक सम्बन्धों के कारण वैश्यों की आर्थिक स्थिति पर्याप्त संतोषजनक थी।

मौर्योत्तरकाल में शिल्पियों ने अत्यधिक मात्रा में उन्नति की। वैसे तो शिल्प–कार्य वैश्य वर्ण का व्यवसाय था, परन्तु बौद्ध धर्म के प्रभाव एवं विदेशियों के शासन के फलस्वरूप अनेक विषयों में वैश्य व शूद्र वर्ण के मध्य का वर्ण–विभेद समाप्त सा हो गया था। व्यापारिक गतिविधियों में वृद्धि का आभास मिलता है। कुषाण काल में उन व्यापारियों की श्रेणियों का विशेष महत्व हो गया था, जिनके नेता सार्थवाह होते थे। इस कारण भारत से होकर चीन तथा रोम से होने वाले रेशम के व्यापार में वृद्धि की।[29] इस समय तक नगरीय जीवन समृद्ध एवं विकसित हो गया था, जिसकी पृष्ठभूमि का आधार शिल्पकारों एवं व्यापारिक श्रेणियों की सहायता से निर्मित हुआ।

वैश्य कर के रूप में अन्न का आठवाँ भाग निर्धारित किया था। यह आपातकालीन परिस्थिति के लिए अतिरिक्त कर था। इस काल में विदेशी जातियों के आगमन के कारण मनु को परम्परागत वर्ण व्यवस्था के परिवर्तन होने से सामाजिक –व्यवस्था के डावाँडोल होने की आशंका हुई।[30] तभी उसने राजा द्वारा वैश्य को निर्दिष्ट किया कि रूपये का लेन–देन, खेती तथा पशुपालन आदि कार्यो को दत्त–चित्त होकर सम्पन्न करें। निश्चित ही आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न वैश्य व शूद्र वर्ण समाज से विद्रोही–प्रवृत्ति अपना कर मर्यादा का उल्लंघन कर रहे होंगे। अतः सामाजिक –संतुलन स्थिर रखने हेतु मनु ने राजा को आदेश पारित किया था कि वह चतुरतापूर्वक वैश्यों एंव शूद्रों को उनके नियत कार्य करने को बाध्य करे।[31]

कुषाण–कालीन वैश्य वर्ण ने अपने सर्वोन्मुखी–विकास द्वारा जहाँ एक ओर अध्ययन, यजन व दान आदि कार्यो में ब्राह्मण व क्षत्रिय के समान अधिकार प्राप्त किये, दूसरी ओर तत्कालीन बौद्ध व जैन–धर्म के प्रभाव से उत्पन्न वातावरण से सामनजस्य करते हुये शूद्रों के साथ व्यवसायों की भी अद्भुत उन्नति की। मात्र उनकी व्यावसायिक उन्नति के कारण समाज के उच्च वर्णो ने उनके महत्त्व को स्वीकार किया। शूद्रों के पूर्ण सहयोग तथा धन–वैभव के बल पर तत्कालीन वैश्वों ने अपार गौरव प्राप्त किया था।

शूद्र

विवेच्यकालीन स्मृतिकारों ने शूद्रों के विषय में पर्याप्त विवरण दिया है। पूर्व की तरह इस काल में भी जहाँ ब्राह्मणों को प्राचीन हिन्दू समाज में समादृत स्थान प्राप्त था वहीं दूसरी तरफ शूद्रों को बड़ा हेय स्थान प्राप्त था। मनुस्मृति में शूद्रोत्पत्ति विराट–पुरूष के पैरों से हुई मानी जाती है।[32] शरीर में पैरों के सम्मान ही वर्णो में शूद्र–वर्ण की गणना होती थी, परन्तु जैसे बिना पैरों के मनुष्य चल नहीं सकता। उसी प्रकार शूद्र–वर्ण के बिना समाज रूपी शरीर अविचल ही रह जाता। यही कारण कि शूद्र वर्ण निम्न वर्ण होने पर भी अपनी उपादेयता के कारण आवश्यक माना गया था।

मनुस्मृति के अनुसार ब्रह्मा ने चारों वर्णो को बनाने के साथ ही उनके धर्म का भी विधान किया और शूद्रों के लिए एक ही धर्म बताया, द्विज–सेवा। मनुस्मृति में विहित है कि ब्राह्मण चतुरतापूर्वक (वैश्य व शूद्रों) को निर्धारित

कार्यो में नियुक्त रखें।[33] संभवतः यह घोषणा मनु को तत्कालीन निम्न–वर्ण (वैश्य व शूद्र) द्वारा सामाजिक–आर्थिक विप्लव की स्थिति उत्पन्न करने के कारण करनी पड़ी थी। प्रारम्भिक काल में प्रथम तीन वर्ण उच्च वर्ण एवं शूद्र निम्न–वर्ण के अन्तर्गत माने जाते थे।[34] परन्तु कुषाण–काल में इसमें परिवर्तन आया और ब्राह्मण व क्षत्रिय उच्च–वर्ण एवं वैश्य व शूद्र निम्न–वर्ण के अन्तर्गत व्यवस्थित किए गए।[35]

मिलिन्दपन्हों के एक उद्धरण में वैश्य व शूद्रों के खेती, व्यापार एवं पशुपालन वर्णित हुए है।[36] अतः स्पष्ट है कि इस समय तक दोनों वर्ण एकाकार हो गये थे। वैश्य व शूद्र के मध्य एक मुख्य अन्तर यह था कि वैश्य द्विज थे जबकि शूद्र नहीं।[37] इनके अतिरिक्त लौकिक तथा व्यावहारिक स्तर पर शूद्रों का उल्लेख मिलता है। पतंजलि के महाभाष्य (150ई0पू0) से समाज में दो प्रकार के शूद्रों का उल्लेख मिलता है एक तो जन्मना शूद्र और दूसरा कर्मणा शूद्र।[38]

शूद्रों को जीवनयापन प्रक्रिया में कई तरह के बन्धनों को स्वीकार करना पड़ता था। शूद्रों को अध्ययन से वंचित रखा जाता था तभी मनु ने कहा कि शूद्रों के समीप अध्ययन नहीं करना चाहिए।[39] शूद्र यदि द्विज को कठोर वचन कहे तो उसकी जिह्वा काट लेनी चाहिए।[40] उसके लिए यज्ञ का विधान करने की आवश्यकता, धर्मशास्त्रकारों ने संभवतः इसलिए भी नहीं समझी क्योंकि उनके विचार में अन्य वर्ण के सदस्य यज्ञादि द्वारा जिस पुण्य फल की प्राप्ति करते है, वह शूद्र को सेवा कार्य से ही सुलभ हो जाता है।[41] शूदों को सम्पत्ति संग्रह करने का अधिकार नहीं था।[42] मनुस्मृति में विहित है कि शूद्र को सम्पत्ति–संचय करने का अधिकार नहीं है, क्योंकि वैभव –सम्पन्न वह ब्राह्मण के लिए समस्या बन जायेगा।

मनु ने स्पष्ट किया है कि भारतीय वर्ण–व्यवस्था के निर्धारित नियमों के अनुसार शूद्र शासक नहीं हो सकते। संस्कारविहीन एवं वेदाध्ययन के अयोग्य शूद्र के लिए खान–पान सम्बन्धी किसी भी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध न था। द्विजों द्वारा अभक्ष्य प्याज, लहसुन माँस मदिरा आदि खाद्य–वस्तुओं को खाने के लिए शूद्र पूर्ण स्वतन्त्र थे। मनुस्मृति के विवरणानुसार शूद्र को ब्राह्मणों द्वारा झूठा–भोजन, अन्नों के पुआल, बर्तन आदि दिये जाने चाहिए।[43] याज्ञवल्क्य स्मृमि में भी वर्णन है कि खेती करने वाला, वंश का मित्र, नाई और जिसने अपने को समर्पित कर दिया, शूद्रों में इनका अन्न स्वीकार करने योग्य है।[44]

द्वितीय शताब्दी ई0 गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी के अथक प्रयास द्वारा वर्ण–व्यवस्था को सुव्यवस्थित रखने में सफलता मिली थी एवं ब्राह्मणों द्वारा क्षत्रियों के विरूद्ध वर्णो की स्थापना की गई थी।[45] फलस्वरूप शूद्रों की सामाजिक दशा में महान सुधान आया। इसकी पुष्टि मनुस्मृति के उस विवरण द्वारा होती है, जिसमें वासिष्ठ को शूद्र–जनक कहा गया है। यह उनकी उन्नत सामाजिक व धार्मिक दशा का द्योतक है। स्पष्ट है अब वह नामकरण संस्कार योग्य हो गए थे। यही नहीं उनकी सुरक्षा का भी पूरा प्रबन्ध था। शूद्र को गाली देने पर ब्राह्मण भी दण्डित किया जाता था तथा शूद्र–हत्या के अपराध में ब्राह्मण को ब्रह्म–हत्या के व्रत का अनुष्ठान करना पड़ता था। मनुस्मृति में वर्णित है कि यदि असत्य बोलने से शुद्र की जीवन–रक्षा सम्भव हो तो असत्य बोलना ही श्रेष्ठ धर्म है। अतः स्पष्ट है इस काल में शूद्र की स्थिति में सन्तोषजनक सुधार आया था।

मौर्योत्तर कालीन सामाजिक व्यवस्था में जटिलता का पर्याप्त जाल समाहित हो चुका था। विदेशी–शासकों हिन्दीं, यवन, शक, पह्लव, कुषाण के भारत आगमन एवं बौद्ध व जैनधर्म स्वीकार करने से वर्ण–व्यवस्था की अक्षुण्णता में कतिपय ह्रास आया। संस्कार–विहीन कृषाण–शासकों द्वारा अन्तर्जातीय विवाह एवं व्यवसायों के आधार पर धार्मिक, आर्थिक, व्यावसायिक कारणों से समाज में अनेकानेक वर्ण संकर जातियों का उद्भव हुआ। तत्कालीन व्यवस्थापकों ने सुधारवादी दृष्टिकोण को अपनाकर कर्म के आधार पर समाज को पुर्नगठित करने का प्रयास किया। सामाजिक स्थिरता बनाये रखने के लिए विदेशी जातियों को जो उच्चस्थिति में थी, उन्हें क्षत्रिय वर्ग में शामिल किया गया तथा साधारण विदेशी जन को शूद्र वर्ण में स्थान दिया गया।

उपसंहार

मौर्योत्तर काल में विदेशी अक्रान्ता के आगमन से भारतीय समाज की पुरातन व्यवस्था डगमगा गई तथा नये सामाजिक स्तरीकरण का मार्ग प्रशस्त हुआ। इस काल में सामाजिक स्तर के निर्धारण में वैयक्तिक आर्थिक उपलब्धियों का योगदान बढ़ा। इस समय सामाजिक स्तर के निर्धारण में आर्थिक स्थिति ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। समाज में धन लौकिक महत्त्व को दर्शाता है। यद्यपि न तो मनु और न याज्ञवल्क्य ही द्विज वर्णो और शूद्रों के मध्य श्रेष्ठता के निर्धारण में अर्थवाद को कोई महत्त्व देते हैं, परन्तु शास्त्रीय सामाजिक स्तरीकरण और लौकिक सामाजिक स्तरीकरण के समन्वय औपचारिक प्रभाव ने शिल्पियों की सामाजिक स्थिति को प्रभावित किया। सामाजिक प्रतिष्ठा के निर्धारण में अर्थ के महत्वपूर्ण हो जाने के कारण व्यवस्थाकारों द्वारा शूद्रों के धनसंग्रह पर विशेष चिन्ता व्यक्त की गई। निश्चित ही जाति व्यवस्था की उत्पत्ति का प्रयोजन समाज को सुचारू रूप से चलाना था। इसी को दृष्टि में रखते हुए विभिन्न चारों–वर्णो के कर्तव्यों, अधिकारों एवं विशेषाधिकारों का निर्धारण किया गया।

सन्दर्भ सूची

1. मनुस्मृति , 3/15, 10/24, 10 /431
2. दिव्यावदान , 328/4
3. दिव्यावदान, 331/5–6, 328/5–6
4. काणे, पी.वी. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ 114
5. ब्राह्मण हि पूर्व क्षत्रात्। ताण्डप महाब्रह्मण, 10/1/2
6. मद्यवदान, 2/139
7. महाभाष्य, ण्6, 2, 1, 186
8. याज्ञवल्क्य, 1/39

9. मनुस्मृति, 2/168
10. पुरी, वी0एन, इण्डिया इन द टाइम ऑफ पतंजलि (द्वितीय संस्करण), बम्बई, 1968
11. मनु., 3/152
12. महाभारत, 2, 2, 1, 427
13. अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
14. दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्माणनाम कल्पयत् ।। मनु, 1.88
15. याज्ञवल्क्य, 214
16. मनुस्मृति, 8 /378–8
17. याज्ञवल्क्य, 2/82
18. दिव्यावदान, 322/17–8
19. जायसवाल, के.पी. मनु एण्ड याज्ञवल्क्य, पृष्ठ 171
20. मनु. 1/194
21. शर्मा, आर.एन., ब्रह्मिन्स थ्रू दि एजेज, पृष्ठ 180
22. मनु, 2.17–18
23. महाभारत, 12, 56, 24, 25, 73, 8–13
24. शास्त्री, अजय मित्र, इण्डिया ऐज सीन, पृ0 197
25. मनुस्मृति 7/13–4, 18, 20
26. मनुस्मृति, 7/13–4, 18, 20
27. मनुस्मृति, 8, 267 शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति।
28. वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति।।
29. मनुस्मृति, 7/3/1–3
30. मनुस्मृति, 7/3/1–3
31. मनुस्मृति, 9/330–2
32. शर्मा, आर.एस. शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृष्ठ 175